

धार्मिक राष्ट्रवाद और हिंसा

सामाजिक विमर्श
1(1) 73-80
© 2018 CSD and
SAGE Publications
sagepub.in/home.nav
DOI: 10.1177/2581654318797836
<http://smv.sagepub.in>



प्रताप भानु मेहता¹

सार

वर्तमान में राष्ट्रवाद को विशिष्ट धर्म, भाषा, परम्परा और संस्कृति से जोड़कर उन्माद के रूप में देखने के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। राष्ट्रवाद एक विचारधारा तो है, परंतु धर्म व भाषा आदि का पर्यायवाची नहीं है। राष्ट्रवाद में विविधता व व्यापकता पाई जाती है। भारतीय राष्ट्रवाद एकस्वरूपीय मानक नहीं हो सकता। यह एक तानाबाना है जो विभिन्नताओं का समुच्चय व पुंज है। भारतीय राष्ट्रवाद हिंदूत्व का समकक्ष नहीं है। भारत एक मिश्रित संस्कृति व जटिल तानाबाना है। राष्ट्रवाद में भाषाई, धार्मिक, और सांस्कृतिक गैर-बराबरी के लिये कोई स्थान नहीं है। राष्ट्रवाद के तानेबाने में हर तत्व का स्थान व पहचान होती है। यही साझा अनुभूति राष्ट्रवाद का मानक है। धार्मिक, भाषाई और सांस्कृतिक स्वतंत्रता और विशिष्ट पहचान के बीच सामंजस्य द्वारा राष्ट्रवाद को समझा व परखा जा सकता है।

कुंजी शब्द

राष्ट्रवाद, भारतीयता, धर्म, भाषा, हिंदूत्व, अस्मिता

राष्ट्रवाद आधुनिक दुनिया का अपरिहार्य उन्माद है। यह आत्मशासी समुदायों का आधार कहा जा सकता है। यह अपने नागरिकों के बीच सर्वोत्तम तरीके से एकजुटता पैदा करता है, जो खुद को एक ही नियति का साझेदार मानते हैं। यह एकमात्र ऐसी विचारधारा है जिसके लिए वैसे ही जान दी जा सकती है, जैसे धर्म के लिए। धर्म के समान ही यह जानुस-जैसे दो चेहरोंवाला है : अपार आदर्शवाद का स्रोत और भयानक अपराधों और बहिष्करण का आधार।

राष्ट्रवाद की विविधता और दृढ़ता एक वृहद विषय है। इस समय जिस मुद्दे को समझने की आवश्यकता है, वह है 'राष्ट्रीय क्रोध' का उदय, जो वास्तव में एक निंदनीय, आरोपकारी और विभाजनकारी राष्ट्रवाद का परिणाम या उसकी पहचान है।

वर्तमान समय भारतीयतावाद पर विचार करने का है, जिसे अकादमिक विचार-विमर्श का मुद्दा होना चाहिए। यह उसे अनावश्यक प्रतिवाद के विषय में धर्मांतरित कर देता है। 'भारत के अर्थ' की खोज

¹ अध्यक्ष, कुलपति, अशोका युनिवर्सिटी, हरियाणा, ईमेल : pratapbmehta@yahoo.co.in

करते हुए राजा राव (Rao, 1996) ने देखा कि भारतीय जन भारत को नहीं बनाते, बल्कि 'भारत' से भारतीय बनते हैं, और यह भारत सभी में है। यह ऐसा अहसास है जिसमें व्यक्ति को बारंबार खुद को झोंकना पड़ता है। यही वजह है कि भारतीय पहचान के बारे में अनेक चिंताएँ हमेशा बढ़ा-चढ़ाकर पेश की जाती हैं। विश्व के वर्तमान इतिहास से भयभीत होने की बजाए भारत किसी भी विचार को अपना बना सकता है, वह भी इस तरीके से जिससे ऐसा लगे कि उस विचार के संदर्भ में यह भारत का अनूठा योगदान है। यह विकृत आत्मश्लाघा को जन्म देनेवाला एक विजयी तर्क नहीं है, बल्कि 'विदेशी' नामक तत्त्व को लेकर इसकी भयावह चिंता से इसे मुक्त करने की आवश्यकता है। विश्व इतिहास की प्रत्येक विचारधारा चाहे वह इस्लाम हो या मार्क्सवाद, प्रबुद्धता हो या राष्ट्रवाद, अपने आपमें भारतीय है। अपरिहार्य रूप से भारत की अवधारणा में अच्छी बात यह है कि यह मुक्तिकारी है। भारत एक ऐसा धरातल है जिस पर आप खड़े हो सकते हैं और उच्चतर लक्ष्य रख सकते हैं इसकी कोई सीमा नहीं है, जिसे आप घबराकर उससे लटकने की कोशिश करें और उसी के भीतर सुरक्षा का अनुभव करें।

भारतीय राष्ट्रवाद का कोई एक बेंचमार्क या मानक नहीं हो सकता। भारत जटिल धागों से बना हुआ जाल है, और अगर एक धागे को आप बहुत ज्यादा खींचते हैं तो पूरा तानाबाना विकृत हो जाता है। भारत में राष्ट्रवाद का विरोध लगभग हमेशा मानकीकृत राष्ट्रवाद को आरोपित करने के चलते पैदा होता है। भारत में अशांतिजनक अलगाववाद प्रायः राजकीय अधिनायकवाद की प्रतिक्रिया में ही जन्म लेता है। यदि हर पहचान को फलने-फूलने का मौका दिया जाए तो इससे भारत कमजोर नहीं बल्कि मजबूत ही होगा। भारतीय राष्ट्रवाद के विविध रूप हैं, यानी वह स्वभाव से बहुरंगी है। यह बात इतनी स्पष्ट है कि इसे दुहराने की ज़रूरत न थी, लेकिन हम इसे ही भूल जाते हैं। भारत की रंग-बिरंगी विविधता को आज एक अँधेरी छाया में परिवर्तित किया जा रहा है।

इस लघु निबंध में, मैं दो विषयों को सामने लाना चाहता हूँ। सबसे पहले यह कि हम बहुधा बहस के दौरान भारतीय राष्ट्रवाद की एकरूपतावादी संकल्पना के खिलाफ़ एक बहुलवादी संकल्पना को खड़ा कर देते हैं, और बहुलवादी संकल्पना को अधिक महत्त्व देते हैं, तथा एकरूपतावादी संकल्पना की निंदा करते हैं। मेरा तर्क है कि यह सोच पर्याप्त नहीं है। राष्ट्रवाद की समस्या यह है कि वह हमेशा अपनी पहचान के मानकों को तय करने की माँग करता है और पहचान स्वभावगत रूप से हमेशा पूर्णता की माँग करती है। यदि 'ए' 'बी' के समान है, तो उनमें कोई एक गुण समान होगा। उन्हें एक समान बनाए रखने के लिए उन्हें उस गुण की अनुरूपता बनाए रखनी होगी जो उन्हें एक समान बनाती है। पहचान का आंतरिक तर्क अनुरूपता और पूर्णता है। यदि हम सच्चे अर्थों में राष्ट्रवाद की विकृतियों से बचना चाहते हैं तो हमें अपनी पहचान के विचार पर बातचीत के द्वारा राष्ट्रवाद का पता करने की आवश्यकता होगी। लोगों के लिए पहचान की अहमियत है, और उन्हें इसकी परिभाषा देने के लिए स्वतंत्र होना चाहिए, उन्हें अपनी कहानी खुद लिखने के लिये स्वतंत्र होना चाहिए। उन्हें एक अनिवार्य पहचान का क़ैदी बना देना उनकी स्वतंत्रता के स्वभाव से मेल नहीं खाता। जब राष्ट्रवाद एक अनिवार्य चरित्र का रूप धारण कर लेता है तो वह स्वयं के साथ घात कर सकता है। दूसरा मुद्दा है, धर्म और राष्ट्रवाद के आधुनिक पारस्परिक संबंध का। ये दोनों एक साथ क्यों आते हैं? इससे किस प्रकार का नैतिक मनोविज्ञान उत्पन्न होता है?

मैंने हाल में विनायक दामोदर सावरकर की एक छोटी-सी पुस्तक 'हिंदुत्व' को दोबारा पढ़ा। मैं हमेशा सोचा करता था कि इसमें प्रस्तुत की गई भारतीय राष्ट्र की अवधारणा इतनी अनाकर्षक है कि वह टिक नहीं सकती। यह विचार भारत के बहुलतावाद और इसके अल्पसंख्यक समूहों के साथ हर प्रकार के प्रतिकूल बर्ताव का स्रोत है, जिसे हम इसी से उत्पन्न हुए हिंदुत्व की राजनीति के साथ जोड़ सकते हैं। इसके बावजूद अनेक समझदार नागरिक इसकी ओर आकर्षित हुए हैं। वे मानते हैं कि कई मायनों में यह पुस्तक भारतीय राजनीति के परिदृश्य के संदर्भ में हिंदू समुदाय की चिंताओं की ईमानदार राजनीतिक अभिव्यक्ति है।

यह पुस्तक इतनी सफल क्यों रही है? इसकी अपील को समझने के लिए एक छोटा-सा खेल खेलते हैं। प्रश्न यह है कि भारत क्या है? कुछ लोगों का तर्क होगा कि भारत एक सभ्यता है। लेकिन यह तर्क ज्यादा देर तक टिकता नहीं, क्योंकि इससे आगे और भी प्रश्न पैदा होते हैं। उदाहरण के लिये, इस सभ्यता को कौन-सी बात विशिष्ट बनाती है, या इस सभ्यता के अनुयायियों को एक साथ बाँधनेवाला कौन-सा कारक है? मान लीजिए कि आपने तर्क दिया, जैसा अनेक प्रमुख राष्ट्रवादियों ने दिया है कि भारत एक मिश्रित संस्कृति है, एक जटिल तानाबाना है, जिसमें अलग-अलग प्रकार के धागे हैं। पुनः हम एक और प्रश्न आपसे पूछते हैं : इस सम्मिश्रित संस्कृति के सदस्यों में वह कौनसी बात साझा है जो भारत को एक राष्ट्र बनाती है?

अगर भाषा को आधार मानें तो भारतीय भाषाओं के बीच सामान्यता का आधार क्या हो सकता है? इसका उत्तर देना मुश्किल है। साझा संस्कृति इसका उत्तर नहीं हो सकती, क्योंकि हमें यह निर्दिष्ट करना होगा कि हमें वास्तव में क्या साझा करना है और हमारी संस्कृति के किस पहलू को हम अन्य की तुलना में अधिक महत्त्व देना चाहते हैं। धर्म भी इसका उत्तर नहीं हो सकता क्योंकि भारत में कई धर्म हैं। यहाँ तक कि हिंदू धर्म में भी वह साझा तत्त्व नहीं है, क्योंकि यह तो स्वयं सावरकर ने भी चतुराई के साथ दिखलाया है कि हिंदू धर्म आंतरिक रूप से विविधताओं से भरा है। वे यह तर्क भी देते हैं कि 'हिंदुत्व' को साझा सामाजिक प्रथाओं की किसी एक व्यवस्था, या साझा विश्वासों के एक संपुंज के संदर्भ में सीमांकित नहीं किया जा सकता। वास्तव में, उनका तर्क है कि सनातन धर्म को माननेवाले 'हिंदुत्व' की धारा का एक छोटा-सा अंश हैं। आप यह तर्क दे सकते हैं कि जो इस भौगोलिक सीमा में निवास करते हैं वे सभी भारतीय हैं। किंतु इससे एक और प्रश्न सामने आता है, इस क्षेत्र में निवास करने योग्य कौन है? आज की राजनीतिक संस्थाओं के बारे में क्या कहा जाए? ये तो शायद ही कभी हमारे पास थीं। साझा इतिहास की भावना का क्या करें? चूँकि हम उसी इतिहास को स्वीकार करते हैं जो हमारी इच्छित पहचान को पुष्ट करने में मदद करता है। हम एक साझा इतिहास चुनते हैं, क्योंकि हम पारस्परिकता का निर्माण करना चाहते हैं। इतिहास अपने आप हमारी पारस्परिक सहानुभूति की जमीन नहीं है। यदि हमारी एक साझा पहचान है, तो हमें एक साझा इतिहास का निर्माण करना होगा।

यह एक भ्रमजाल है जिसे सावरकर ने बहुत प्रभावशाली ढंग से बुना है। सावरकर का तर्क है कि हमें एक ऐसे राष्ट्र का निर्माण अवश्य करना चाहिए, क्योंकि केवल एक राष्ट्र के रूप में ही हम सम्मान के हकदार होंगे, और केवल एक राष्ट्र ही एक ऐसे सामूहिक प्रयास को उत्पन्न करेगा जिसकी हमें आवश्यकता है। लेकिन कौनसी बात हमें राष्ट्र बनाती है? ऐसा क्या है जिसे हम साझा

रूप से याद रखते हैं? एक राष्ट्र के रूप में हम जो कुछ भी साझा करते हैं उसे साझा विश्वास, साझा सामाजिक प्रथाओं, साझा संस्कृति, आम राजनीतिक संस्थाओं और एक आम इतिहास से परे साझा किया जाता है। यह कुछ ऐसा होना चाहिए जो हर तरह के विभाजन से ऊपर हो, उन्हें पार कर सके, हमें इनके दंश से मुक्ति दिला सके और राजनीतिक उथल-पुथल और सांस्कृतिक-धार्मिक मतभेदों को झेल सके, और उनसे अधिक स्थायी हो।

इस संदर्भ में वह क्या हो सकता है जिसे सावरकर रक्त-संबंध की तरह ही देखते हैं, और सिर्फ उसे ही सामान्य बंधुत्व का आधार मानते हैं? निश्चित रूप से यह साझा नस्ल ही हो सकती है जो हमें आपस में जोड़ती है। हमारे मतभेद चाहे कोई भी हों, हम एक सामान्य रक्त-संबंध से जुड़े हैं। सावरकर को एक ऐसे मार्ग की तलाश है जो भारत को एक पहचान दे सके, जो दूसरे सभी मतभेदों को ढँक ले। उनका उत्तर है – एक साझा नस्ल का होने का अर्थ है भारतीय होना। और इस भारतीयता को वे 'हिंदुत्व' कहते हैं। हम चाहे हिंदू हों या मुसलमान या ईसाई, यह सभी में एक ही है। साझा नस्ल या साझा रक्त-संबंध, या साझा मूल्य का भाव ऐतिहासिक रूप से हमारे ऊपर हावी रहता है, और अन्य सभी मतभेदों पर क्राबू पाने में मदद करता है। ऐसा लगता है कि यह एकमात्र तरीका है जिससे इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है कि 'भारतीय कौन है'।

मुश्किल यह है कि सावरकर जिसे वास्तविक सत्य मानते हैं, उसे कई समुदाय, जैसे मुसलमान, स्वीकार नहीं करते। वे कौन हैं जो इस सच्चाई को नैतिक प्राथमिकता देने और उसमें अपनी सर्वोपरि निष्ठा व्यक्त करने की बजाए, भारत के बाहर के देवताओं की पूजा करते हैं; बल्कि यह मानने की बजाए कि वे एक ही वंश के हैं, वे खुद को अलग प्रमाणित करने की फ़िराक में रहते हैं।

बहुत-से लोगों को सावरकर का तर्क उचित लगता है क्योंकि यह इस प्रश्न का अकेला तर्कसंगत उत्तर प्रतीत होता है कि भारत क्या है। सावरकर एक और काम करते हैं। वे भारतीय पहचान का एक मानक तैयार करते हैं। जैसे, भारतीय होने के लिए ज़रूरी है कि आप भारत के बाहर के ईश्वर की पूजा बंद करें, आदि।

सावरकर को पढ़कर दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। पहले इस प्रश्न को लें कि भारत क्या है? यह प्रश्न किसी फंदे की तरह है। इसका कोई एक प्राकृतिक उत्तर नहीं है। यह केवल किसी पहचान की भंगुरता को ही उजागर करता है। यह एक आधिकारिक परिभाषा को गढ़ने की होड़ को जन्म देगा, जो कि ऐसे लोगों के द्वारा निर्धारित की जाती है जो सर्वाधिक शक्तिशाली हैं। इसके अलावा यह पहचान का एक प्रतिरूप भी निर्मित करेगा। वास्तव में, भारत में अधिकतर अल्पसंख्यकों की कठिनाई यह है कि उनकी भिन्नता पर आवश्यकता से अधिक ज़ोर दिया जाता है। यदि हम कहते हैं कि भारतीय पहचान धर्म के प्रति निष्ठा के कारण बनती है तो वे अपने आप अलग हो जाते हैं। यदि हम कहते हैं, जैसा कि सावरकर ने किया था, कि भारतीय पहचान एक नस्ल का होने से जुड़ी है, तो जो लोग इस 'वास्तविकता' से सहमत नहीं हैं, उन्हें अलग करना होगा। यदि हम कहते हैं कि भारतीय पहचान कुछ मान्यताओं से बनती है, जैसे कि सहिष्णुता, तो कुछ लोगों को इन मान्यताओं को न मानने के कारण अलग कर देना होगा।

संक्षेप में, भारतीय पहचान को मानक बनाने का प्रत्येक प्रयास कुचेष्टा ही होगा। मुझे शक है कि हिंदुत्व की चुनौती का समाधान किसी वैकल्पिक पहचान को प्रमुखता देकर नहीं किया जा सकता। यह

समस्या केवल हिंदुत्व की नहीं है; हिंदुत्व खुद एक पूर्व-निर्धारित पहचान के जुनून का नतीजा है। बल्कि, इसका सामना एक सामान्य और सर्वस्वीकृत पहचान के प्रलोभन से परहेज़ करके ही किया जा सकेगा।

राजनीतिक रूप से, भारत की आवश्यकता यह नहीं है कि हम विशुद्ध भारतीय पहचान की नई संकल्पना करें, जो कि बहुलतावाद और साझापन पर आधारित हो। बल्कि, आवश्यकता इस बात की है कि सामाजिक तौर पर हम इस बात को तय करें कि उन लोगों की इज़्जत कैसे की जाए और उनसे कैसे व्यवहार किया जाए जो भारत की पहचान के बारे में हमारी परिभाषा से सहमत नहीं हैं। हमें यह पूछने की आवश्यकता नहीं है कि हमारे बीच में कौनसी बात साझा है, बल्कि हमें यह पूछना चाहिए कि ऐसी कौनसी शर्तें हैं जिन पर हम उन लोगों को परखते हैं जिनसे हम इस बात पर सहमत नहीं हैं कि हम उन लोगों से क्या साझा करते हैं और क्या नहीं साझा करते। हम जो कुछ साझा करते हैं उसका पता लगाना चुनौती नहीं है, बल्कि चुनौती यह है कि विभिन्नताओं को कैसे स्वीकार किया जाए।

क्या इन सब का अर्थ यह है कि भारत की कोई पहचान नहीं है? यदि इस सवाल का निहितार्थ किसी ऐसी चीज़ से है जो कि हम सब एकमत से साझा करते हैं, तो इसका उत्तर है 'नहीं'। लेकिन यह हमें यह सोचने से नहीं रोकता है कि ऐसे बहुतसे रास्ते और कारण हो सकते हैं जिनके द्वारा हम सब एक दूसरे से अपने संबंध परिभाषित करते हैं। अनेकता में 'एकता' नहीं है, बल्कि हम एकताओं में भिन्न हैं, और हम भारत के संदर्भ में अपने मत के अनुसार पहचान बना सकते हैं। लेकिन, भारत की किसी भी आधिकारिक संकल्पना के लिए किया गया प्रयास बहिष्करण और हिंसा से भरपूर होगा। हमें इस बात से कुछ ढाढ़स बँधता है कि आम तौर पर हमें यह बात परेशान नहीं करती कि भारत की अपनी कोई पहचान है या नहीं, कोई यह सवाल नहीं उठाता जब तक कि इसके अस्तित्व को साबित करने की ज़बरन कोशिश नहीं की जाती।

आज धर्म आधारित राष्ट्रवाद के नाम पर हिंसा को उचित ठहराने की प्रवृत्ति ज़ोर पकड़ रही है। ऐसे में यह सवाल उठना उचित है कि आधुनिक दुनिया में धर्म की भूमिका क्या होनी चाहिए। धर्म और हिंसा के बीच का संबंध एक ऐतिहासिक मुद्दा रहा है। आज यह और भी गहराया हुआ है। किंतु समकालीन दुनिया में आधुनिकता की विशिष्ट चुनौतियाँ धर्म-आधारित हिंसा का प्रेरक बन गई हैं। कुछ लोग यह दावा करते हैं कि धर्म हमेशा से हिंसा को उचित ठहराता रहा है। दूसरी तरफ़ कुछ लोग दयानतदारी दिखाते हुए इससे इनकार करते हैं कि असली धर्म ने कभी भी हिंसा को उचित ठहराया है। ये सभी, समकालीन विश्व में धर्म और हिंसा के बीच संबंध की ऐतिहासिक विशिष्टता से नज़र चुराते हैं।

हालाँकि धार्मिक तर्क, ग्रंथ, प्रतीक और पुराण हमेशा एक ऐसा परिदृश्य प्रदान करते हैं जो हिंसा को वैध तथा स्थायी ठहराए। जबकि, धर्म-आधारित हिंसा के आधुनिक रूपों में कुछ ख़ास बात है। प्राचीन ग्रंथ, जैसे 'वेद', 'द ओल्ड टेस्टामेंट', 'महावंश', 'महाभारत' या यहाँ तक कि 'कुरान' में वर्णित हिंसा और बलिदान के वर्णन पर्याप्त विस्तार से हिंसा के पीड़ित होने का कारण बताते हैं। इस अर्थ में, इन ग्रंथों की कहानियों में हिंसा के पीड़ित किसी-न-किसी रूप में पवित्र माने गए और उन्हें मान्यता दी गई। वे हिंसा का शिकार हुए, क्योंकि वे दंड के भागी थे, या इसलिए कि वे ब्रह्मांडीय नाटक के छोटेसे प्यादे थे। इन ग्रंथों में विस्तार से बताया गया है कि हिंसा कई अर्थों में पीड़ित को भी लाभ पहुँचाती है।

आधुनिक धर्म-आधारित हिंसा कहीं ज़्यादा बुनियादी रूप में पीड़ितों की पहचान पर आधारित प्रतीत होती है। आतंकवाद या सांप्रदायिक हिंसा में किसी भी जगह यह विचार नहीं है कि हिंसा के पीड़ितों को कभी उस हिंसा से लाभ मिलेगा जिसे उन्होंने भोगा है। दुश्मन निराकार, अनजान और अनाम बना रहता है। आधुनिक हिंसा के पीड़ित हिंसा से नष्ट हो जाते हैं, उन्हें कोई लाभ नहीं मिलता।

आधुनिक धर्म-आधारित हिंसा की यह विशेषता आश्चर्यजनक नहीं प्रतीत होती जब हम इस तथ्य पर गौर करते हैं कि इसकी ऊर्जा का स्रोत धर्म से अधिक राष्ट्रवाद है। धर्म और राष्ट्रवाद के बीच का संबंध जटिल है, और लंबे समय से चला आ रहा है। इनके बीच अन्य जो भी मतभेद हों, दोनों में एक निर्णायक बात सामान्य है। ये दोनों ही मृत्यु को समर्पित विचारधाराएँ हैं। अन्य कोई विचार ऐसा नहीं है जो उनकी तरह मृत्यु को अर्थ दे सके। उनका यही अनूठापन लोगों को आकर्षित करता है। परेशान करनेवाला प्रश्न यह है कि क्या मृत्यु को अर्थ देनेवाली उनकी ताकत केवल सिक्के का दूसरा पहलू है जो विनाश को उचित ठहराती है।

पारंपरिक तौर पर, धर्म-आधारित हिंसा का औचित्य प्रमाणित करने के लिए तीन प्रकार की व्याख्याएँ दी जाती रही हैं। हिंसा को, खास तौर पर हिंदू धर्म में, बहुधा एक निरंतर चलनेवाली ब्रह्मांडीय प्रक्रिया का अनिवार्य अंग माना जाता है। दूसरे, सहस्राब्दीवादी चिंतन के तहत धार्मिक रूप से ज़्यादा अनुकूल दुनिया बनाने के प्रयास में विधर्मी लोगों के धर्मांतरण या सामाजिक संबंधों को एक कल्पित आदर्श समाज या ईश्वर की इच्छा के अनुरूप ढालने के उद्देश्य से हिंसा का प्रयोग उचित माना गया है। बीसवीं सदी में प्रचलित खूनी क्रांति के विचार इसी आकांक्षा के धर्मनिरपेक्ष प्रतिरूप हैं।

तीसरी प्रेरणा सामूहिक आत्ममुग्धता से उत्पन्न होती है। समूह की सदस्यता को पूजनीय मान लिया जाता है। इस विचार के अन्तर्गत समूह का नैतिक स्वरूप चाहे जो भी हो, वह अपने आपमें सार्थकता का स्रोत है। इस दृष्टि से समूह की पहचान पर आये खतरों को टालने के क्रम में हिंसा का प्रयोग उचित है। ज़्यादातर धार्मिक आंदोलन अपनी हिंसा को उचित ठहराने के लिए इन्हीं तर्कों का सहारा लेते रहे हैं। धार्मिक कट्टरपंथियों ने हिंसा के माध्यम से नैतिक दृष्टि से एक अधिक शुद्ध दुनिया बनाने और अपनी सामूहिक पहचान को स्थापित करने की कोशिश की है। आधुनिक विश्व में धर्म की समस्या यह है कि वह बिना हिंसा का सहारा लिए कोई सार्वजनिक भूमिका निभा पाएगा इसकी कल्पना ही असंभव है।

ऐसा दो कारणों से होता है। कुछ प्रकार की सामूहिक पहचानें अपरिहार्य हैं, और वांछित भी। किन्तु, मेरे अध्यापक जॉर्ज केटेब (Kateb, 1994, पृ. 186-92) हमें हमेशा याद दिलाते थे कि सामूहिक आत्ममोह राजनीति में जीवन को नष्ट करता है। किसी एक समूह में लीन कर देने के कारण उसके साथ गहरा जुड़ाव रखनेवाले व्यक्ति में एक निराकार, अमूर्त उन्माद पैदा होता है। वे अपनी स्वयं की पहचान से अलग हो जाते हैं, और अपने से बाहर की किसी भी चीज़ से अपने स्व को एकाकार कर देते हैं। यह एक तरफ़ तो उन्हें उदात्तता की अनुभूति देता है, अधिक टिकाऊपन का अहसास देता है, और दूसरी ओर उनकी पहचान अमूर्त, निराकार हो जाती है। वे कोई और बनने के स्थान पर एक इकाई मात्र बनकर रह जाते हैं।

³ राल्फ वाल्डो इमर्सन (1803-1882) प्रसिद्ध निबंधकार, वक्ता तथा कवि थे। उन्हें अमरीकी नवजागरण का प्रवर्तक माना जाता है। वे व्यक्ति की अनंतता के पक्षधर थे।

यह अमूर्तन और आत्मसमर्पण, दोनों ही व्यक्ति को स्वयं के लिए भी अदृश्य बना देते हैं, उनके भीतर की बहुरूपता और संभावनाशीलता के अपने अहसास में कमी लाते हैं। और फिर वह भी केवल अमूर्त सामूहिक पहचानों के द्वारा अन्य लोगों की व्याख्या करते हैं। ये निराकार पहचानों हिंसा के तथ्य को स्थायी बनाने के लिए अनिवार्य हैं। किसी द्वंद्व या विविधता की अनुभूति इस निराकार पहचान के लिए जोखिम के रूप में देखी जाती है। धर्म सार्वजनिक जीवन में विनाशकारी होगा। किसी सामूहिक धार्मिक पहचान की कल्पना कठिन होगी जिसमें सामूहिक आत्म-मूर्तिपूजा का जोखिम नहीं हो। जहाँ तक आधुनिक धार्मिक राष्ट्रवाद का संबंध है, यह सामूहिक पहचानों की प्रशंसा करता है और इमर्सन¹ के उस गहरे अहसास को भूल जाता है जिसमें कोई भी समाज एक व्यक्ति से बड़ा नहीं होता।

दूसरे, आधुनिक परिदृश्य अधिक विविध और जटिल है। हमारे जीवन के अधिक-से-अधिक हिस्से धार्मिक संदर्भों से अलग हो गए हैं। यह कोई दुर्घटना नहीं है कि जब हम गंभीरतापूर्वक धर्म के बारे में बात करते हैं तो हम यह कल्पना नहीं करते कि हमारी अर्थव्यवस्था को श्रम विभाजन के हिंदू सिद्धांतों के अनुरूप ढाला जाए या केंद्रीय बैंकों को ब्याज की दर तय करने से पहले सूदखोरी के पारंपरिक निषेध को ध्यान में रखना चाहिए। न्याय, अधिकारों और बाध्यताओं संबंधी हमारे कोई भी विचार पारंपरिक धार्मिक रूपरेखा के अंदर आसानी से समा नहीं सकते।

अभिप्राय यह कि हमारे हर कामकाज को धार्मिक नियम-क्रायादों के अनुरूप ढालना लगभग असंभव है। यदि राजनीति में ऐसा नहीं होता, यदि अर्थव्यवस्था में ऐसा नहीं होता, यदि लोकजीवन की संरचना ऐसी नहीं है तो इस दुनिया में धर्म के मार्ग पर चलने की गुंजाइश कहाँ बचती है?

इस सामाजिक यथार्थ के संदर्भ में, इस प्रश्न का उत्तर कि धार्मिक पहचान आखिर है क्या, आसानी से नहीं दिया जा सकता। सिर्फ यह कहा जा सकता कि धार्मिक पहचान क्षणभंगुर और बेचैनी से भरी हुई है। अतः राष्ट्रवाद का सहारा लेना ही एक रास्ता बचता है। ज्ञानोदय की आशा यह थी कि धर्म निजी विश्वास तक सीमित रहेगा और रीति-रिवाजों में दिखलाई पड़ेगा। इसके विपरीत देखा यह गया कि ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में धर्म के लगातार निजीकरण से हालात बेहतर नहीं हुए हैं।

एक तर्क दिया जा सकता है कि धर्म कभी इतना उपेक्षित नहीं हो सकता, क्योंकि यह अनेक लोगों के जीवन को अर्थ प्रदान करता है। किंतु यह प्रश्न बना हुआ है कि क्या आधुनिक समाजों के साझा अनुभवों को वह एक तर्कसंगत, व्यवस्थित ढाँचे में पिरो पाएगा? ऐसा केवल इस पर जोर देकर किया जा सकता है कि इससे दुनिया सरल हो जाएगी और इसके सभी विरोधाभास मिट जाएँगे। धार्मिक कट्टरपंथी भी राष्ट्रवादियों की तरह अनिवार्य रूप से एक सरल दुनिया की चाहत रखते हैं, जहाँ कोई मतभेद नहीं हों, आपस में तालमेल हो और नैतिकता का बोलबाला हो। लेकिन, ऐसी दुनिया को वे हिंसक तरीके से बनाना चाहते हैं।

आधुनिक विश्व में एक सशक्त धार्मिक पहचान केवल निम्न तरीकों से बनाई जा सकती है: संसार से विरक्ति के द्वारा, यह कह कर कि यह संसार माया या धोखा है, और शुद्ध आत्मा का वास्तविक या अंतिम आश्रय नहीं हो सकता। यहाँ पूर्ण सौहार्द संभव नहीं, इसलिए यहाँ कोई व्यक्ति केवल अपनी आत्मा के बारे में ही कुछ कर सकता है, पूरी दुनिया का उद्धार नहीं कर सकता। किंतु आत्मबल के अभाव में सार्वजनिक तौर पर धार्मिक पहचानों पर बल देने का एकमात्र तरीका है उन्माद को बढ़ावा

देना। चूँकि धर्म के प्रति आस्था को रोजमर्रा के जीवन का अंग नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि बहुतसी सामाजिक प्रथाएँ इसकी माँग से बिलकुल अलग हैं, अतः धर्म को केवल एक अलग पहचान के संकेतक के रूप में ही स्थापित किया जा सकता है।

यह कोई दुर्घटना नहीं है कि धार्मिक राजनीति के अधिकांश सार्वजनिक अभिकथन राष्ट्रवाद में आकर शेष हो जाते हैं। इस प्रकार के सद्विच्छापूर्ण कथन कि सभी धर्म अच्छे हैं और इनमें आपस में तालमेल हो सकता है, निरर्थक हैं। इन्हें केवल तभी एक दूसरे के अनुकूल बनाया जा सकता है जब इनमें खुद कोई सार नहीं हो। बढ़ते धार्मिक कोलाहल को धर्म की ताकत नहीं बल्कि धर्म की कमजोरी का प्रतीक कहा जा सकता है। अब अधिक-से-अधिक लोग स्वयं को ईश्वर को समर्पित करने का दावा करते हैं। चूँकि वे उनकी उपस्थिति महसूस नहीं करते, इसलिए वे अपना ईश्वर राष्ट्रवाद में ढूँढ़ लेते हैं।

संदर्भ

Kateb, George (1994). *The inner ocean: Individualism and democratic culture*. New York: Cornell University Press.

Rao, Raja (1996). *The meaning of India*. New Delhi: Vision Books.